४३ कर्म का सामाजिक संदर्भ

☐ डॉ० महावीर सरन जैन

आध्यात्मिक दृष्टि से कर्म सिद्धान्त पर बड़ी गहराई से विचार हुआ है। उसके सामाजिक सन्दर्भों की प्रासंगिकता पर भी विचार करना अपेक्षित है।

आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति माया के कारण अपना प्रकृत स्वभाव भूल जाता है। राग-द्वेष से प्रमत्त जीव इन्द्रियों के वशीभूत होकर मन, वचन, काय से कर्मों का संचय करता है। जैसे दूध और पानी परस्पर मिल जाते हैं, वैसे ही कर्म-पुद्गल के परमाणु आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार लोह-पिंड को अग्नि में डाल देने पर उसके कण-कण में अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असंख्यात प्रदेशों पर अनन्त-अनन्त कर्म वर्गणा के पुद्गल संश्लिष्ट हो जाते हैं।

जीव अनादि काल से संसारी है। दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के क्रियाकलापों में शरीर (पुद्गल) सहायक एवं बाधक होता है। आत्मा का गुण चैतन्य और पुद्गल का गुण अचैतन्य है। आत्मा एवं पुद्गल भिन्न धर्मी हैं फिर इनका अनादि प्रवाही सम्बन्ध है। आत्मा एवं शरीर के संयोग से "वैभाविक गुण" उत्पन्न होते हैं। ये हैं—पौद्गलिक मन, श्वास—प्रश्वास, आहार, भाषा। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के हैं। दोनों के संयोग से ही ये उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की मृत्यु के समय श्वास-प्रश्वास, आहार एवं भाषा के गुण तो समाप्त हो जाते हैं किन्तु पुद्गल-कर्म के आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाने के कारण एक "पौद्गलिक शरीर" उसके साथ निर्मित हो जाता है जो देहान्तर करते समय उसके साथ रहता है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द रूप मूर्त-पुद्गलों का निमित्त पाकर अर्थात् शरीर की इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण करने पर आत्मा राग-द्वेष एवं मोह रूप में परिणमन करती है। इसी से कर्मों का बन्धन होता है। कर्मों का उत्पादक मोह तथा उसके बीज राग एवं द्वेष हैं। कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो जाता है। कर्मों के बन्धन से आत्मा की विरूप अवस्था हो जाती है। बन्धनों का अभाव अथवा आवरणों का हटना ही मुक्ति है। मुक्ति की दशा में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप अवस्था में स्थित हो जाती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस तथ्य को भारतीय-दर्शन स्वीकार करते हैं। आत्मा के "आवरणों" को भिन्न नामों द्वारा व्यक्त किया गया है किन्तु मूल अवधारणा में अन्तर नहीं है। आत्मा के आवरण को जैन दर्शन कर्म-पुद्गल, बौद्ध-दर्शन तृष्णा एवं वासना, वेदान्त-दर्शन अविद्या-अज्ञान के कारण माया तथा योग-दर्शन 'प्रकृति' के नाम से अभिहित करते हैं।

आवरणों को हटाकर मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है? कर्तावादी-सम्प्रदाय परमेश्वर के अनुग्रह, शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय को इसके हेतु मान लेते हैं। जो दर्शन जीव में ही कर्मों को करने की स्वातंत्र्य शक्ति मानकर जीवात्मा के पुरुषार्थ को स्वीकृति प्रदान करते हैं तथा कर्मानुसार फल-प्राप्ति में विश्वास रखते हैं, वे साधना-मार्ग तथा साधनों पर विश्वास रखते हैं। कोई शील, समाधि तथा प्रज्ञा का विधान करता है, कोई श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का उपदेश देता है। जैन दर्शन सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य के सम्मिलित रूप को मोक्ष-मार्ग का कारण मानता है।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि जो कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है। जो जैसा कर्म करता है उसके अनुसार वैसा ही कर्म-फल भोगता है। इसी कारण सभी जीवों में आत्म शक्ति होते हुए भी वे कर्मों की भिन्नता के कारण जीवन की नानागतियों, योनियों, स्थितियों में भिन्न रूप में परिभ्रमित हैं। यह कर्म का सामाजिक संदर्भ है। सामाजिक स्तर पर 'कर्मवाद' व्यक्ति के पुरुषार्थ को जागृत करता है। यह उसे सही मायने में सामाजिक एवं मानवीय बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। उसमें नैतिकता के संस्कारों को उपजाता है। व्यक्ति को यह विश्वास दिलाता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है तथा बुरे कर्म का फल बुरा होता है। राग-द्वेष वाला पापकर्मी जीव संसार में उसी प्रकार पीड़ित होता है जैसे विषम मार्ग पर चलता हुआ अन्धा व्यक्ति। प्राणी जैसे कर्म करते हैं, उनका फल उन्हें उन्हीं के कर्मों द्वारा स्वतः मिल जाता है। कर्म के फल भोग के लिए कर्म और उसके करने वाले के अतिरिक्त किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। समान स्थितियों में भी दो व्यक्तियों की भिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ कर्म-भेद को स्पष्ट करती हैं।

कर्म वर्गणा के परमाणु लोक में सर्वत्र भरे हैं। हमें कर्म करने ही पड़ेंगे। शरीर है तो क्रिया भी होगी। क्रिया होगी तो कर्म-वर्गणा के परमाणु आत्म-प्रदेश की ओर आकृष्ट होंगे ही। तो क्या हम क्रिया करना बन्द करदें? क्या फिर कोई व्यक्ति जीवित रह सकता है? क्या ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन चल सकता है? खेती कैसे होगी? कल कारखाने कैसे चलेंगे? वस्तुओं का उत्पादन कैसे होगा? क्या कर्म हीन स्थिति में कोई जिन्दा रह सकता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म का मूल क्षण हिंसा है। अहिंसा से बढ़कर दूसरी कोई साधना नहीं है। इसी अहिंसा के व्यावहारिक जीवन में पालन करने के सम्बन्ध में भगवान् महावीर के समय में भी जिज्ञासायें उठी थीं। जल में जीव हैं, स्थल पर जीव हैं, आकाश में भी सर्वत्र जीव हैं। जीवों से ठसाठस भरे इस लोक में भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है? हमें कर्म करने ही पड़ेंगे। मार्ग में चलते हुए अनजाने यदि कोई जीव आहत हो जावे तो क्या वह हिंसा हो जावेगी? यदि वह हिंसा है तो क्या हम अकर्मण्य हो जावें? क्रिया करनी बन्द करदें? ऐसी स्थिति में समाज का कार्य किस प्रकार सम्पन्न हो सकता है?

महावीर ने इन जिज्ञासाओं का समाधान किया। उन्होंने अहिंसा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति के चित्त को बहुत गहरे से प्रभावित किया। उन्होंने लोक के जीव मात्र के उद्धार का वैज्ञानिक मार्ग खोज निकाला। उन्होंने संसार में प्राणियों के प्रति आत्मतुल्यता–भाव की जागृति का उपदेश दिया, शत्रु एवं मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखने का शंखनाद किया।

यहाँ आकर आध्यात्मिक दृष्टि एवं सामाजिक दृष्टि परस्पर पूरक हो जाती हैं। आत्मा का साक्षात्कार करना है। आप क्या हैं? "मैं"। इस "मैं" को जिस चेतना शक्ति के द्वारा जानते हैं, वही आत्मा है। बाकी अन्य सभी "पर" हैं। अपने को अन्यों से निकाल लो—शुद्ध आत्मा के स्वरूप में स्थित हो जाओ। आत्म साक्षात्कार का दूसरा रास्ता भी है। अपने को अन्य सभी में बाँट दो। समस्त जीवों पर मैत्रीभाव रखो। सम्पूर्ण विश्व को समभाव से देखने पर साधक के लिए न कोई प्रिय रह जाता है न कोई अप्रिय। अपने को अन्यों में बाँट देने पर आत्म तुल्यता की प्रतीति होती है। जो साधक आत्मा को आत्मा से जान लेता है, वह एक को जानकर सबको जान लेता है। एक को जानना ही सबको जानना है तथा सबको समभाव से जानना ही अपने को जानना है। दोनों ही स्थितियाँ केवल नामान्तर मात्र हैं। दोनों में ही राग-द्वेष के प्रसंगों में सम की स्थिति है, राग एवं द्वेष से अतीत होने की प्रक्रिया है। राग-द्वेष हीनता धार्मिक बनने की प्रथम सीढ़ी है। इसी कारण भगवान् महावीर ने कहा कि भव्यात्माओं को चाहिए कि वे समस्त संसार को समभाव से देखें। किसी को प्रिय एवं किसी को अप्रिय न बनावें। शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है।

समभाव एवं आत्मतुल्यता की दृष्टि का विकास होने पर व्यक्ति अपने आप अहिंसक हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्राणी मात्र जीवित रहने की इच्छा रखते हैं। सबको अपना जीवन प्रिय है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है। इस कारण किसी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भी प्राणी को मारना तथा दुःख पहुँचाना हिंसा है तथा किसी भी प्राणी को न मारना तथा उसे दुःख न पहुँचाना ही अहिंसा है।

इसका व्यक्ति की मानसिकता के साथ सम्बन्ध है। इस कारण महावीर ने कहा कि अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है। एक किसान अपनी क्रिया करते हुए यदि अनजाने जीव हिंसा कर भी देता है तो भी हिंसा की भावना उसके साथ जुड़ती नहीं है। भले ही हम किसी का वध न करें, किन्तु किसी का वध करने का विचार यदि हमारे मस्तिष्क में आ जाता है तो उसका सम्बन्ध हमारी मानसिकता से सम्पृक्त हो जाता है।

इसी कारण कहा गया है कि राग-द्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा एवं उसका प्रादुर्भाव हिंसा है। राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति में अशक्य कोटि के प्राणियों का प्राणवध हो जाए तो भी नैश्चयिक हिंसा नहीं होती, राग-द्वेष सहित प्रवृत्ति से प्राणवध न होने पर भी हिंसा होती है।

हिंसा अधर्म का प्रतीक है तथा अहिंसा धर्म का। हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है, अहिंसा से मानवीयता एवं सामाजिकता का। दूसरों का अनिष्ट करने की नहीं, अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण करने की प्रवृत्ति ने मनुष्य को सामाजिक एवं मानवीय बनाया है। प्रकृति से वह आदमी है। संसारी है। राग-द्वेष युक्त है। कर्मों के बन्धनों से जकड़ा हुआ है। उसके जीवन में राग के कारण लोभ एवं काम की तथा द्वेष के कारण क्रोध एवं वैर की वृत्तियों का संचार होता है। लोभ के कारण बाह्य पदार्थों में हमारी आसक्ति एवं अनुरक्ति बढ़ती जाती है। काम से माया एवं मोह बढ़ता है। माया से दम्भ अहंकार एवं प्रमाद बढ़ता है। मोह से आसक्त अज्ञानी साधक विपत्ति आने पर धर्म के प्रति अवज्ञा करते हुए पुनः पुनः संसार की ओर लौट पड़ते हैं। क्रोध एवं वैर के कारण संघर्ष एवं कलह का वातावरण पनपता है। एक ओर अहंकार से क्रोध उपजता है, दूसरी ओर अहंकार के कारण क्रोध का विकास होता है। क्रोध के अभ्यास से व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है। उसका जीवन दर्शन विध्वंसात्मक हो जाता है। उसकी मानवीयता एवं सामाजिकता नष्ट हो जाती है।

धार्मिक चेतना एवं नैतिकता बोध से व्यक्ति में मानवीय भावना का विकास होता है। उसका जीवन सार्थक होता है।

आज व्यक्ति का धर्मगत आचरण पर से विश्वास उठ गया है। पहले के व्यक्ति की जीवन की निरन्तरता एवं समग्रता पर आस्था थी। उसका यह विश्वास था कि व्यक्ति के कर्म का प्रभाव उसके अगले जन्म पर पड़ता है। वह यह मानता था कि वर्तमान जीवन की हमारी सारी समस्याएँ हमारे अतीत के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन के कर्मों का फल है। वर्तमान जीवन के आचरण के द्वारा हमारे भविष्य का स्वरूप निर्धारित होगा। वह वर्तमान जीवन को साधन तथा भविष्य को साध्य मानकर चलता था। पुनर्जन्म के विश्वास की आधार भूमि पर ही 'कर्मों के फल' के सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ।

आज के व्यक्ति की दृष्टि 'वर्तमान' को ही सुखी बनाने पर है। वह अपने वर्तमान को अधिकाधिक सुखी बनाना चाहता है। अपनी सारी इच्छाओं को इसी जीवन में तृप्त कर लेना चाहता है। आज का मानव संशय और द्विधा के चौराहे पर खड़ा है। वह सुख की तलाश में भटक रहा है। धन बटोर रहा है। भौतिक उपकरण जोड़ रहा है। वह अपना मकान बनाता है। आलीशान इमारत बनाने के स्वप्न को मूर्तिमान करता है। मकान सजाता है। सोफासेट, वातानुकूलित व्यवस्था, मँहगे पर्दे, प्रकाश-ध्वनि के आधुनिकतम उपरकण एवं उनके द्वारा रचित मोहक प्रभाव। उसको यह सब अच्छा लगता है। जिन लोगों को जिन्दगी जीने के न्यूनतम साधन उपलब्ध नहीं हो पाते वे संघर्ष करते हैं। आज वे अभाव का कारण अपने विगत कर्मों को न मानकर सामाजिक-व्यवस्था को मानते हैं। समाज से अपेक्षा रखते हैं कि वह उन्हें जिन्दगी जीने की स्थितियाँ मुहैया करावे। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो वे आज हाथ पर हाथ धरकर बैठने के लिए तैयार नहीं हैं। वे सारी सामाजिक व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर देने के लिए बेताब हैं।

व्यक्ति के चिन्तन को फ्रायड एवं मार्क्स दोनों ने प्रभावित किया है। फ्रायड ने व्यक्ति की प्रवृत्तियों एवं सामाजिक नैतिकता के बीच 'संघर्ष' एवं 'द्वन्द्व' को अभिव्यक्त किया है। उसकी दृष्टि में 'सैक्स' सर्वाधिक प्रमुख है। इसी एकांगी दृष्टिकोण से जीवन को विश्लेषित एवं विवेचित करने का परिणाम 'कीन्से रिपोर्ट' के रूप में सामने आया। इस रिपोर्ट ने सैक्स के मामले में मनुष्य की मनःस्थितियों का विश्लेषण करके 'नार्मल आदमी' के व्यवहार के मानदण्ड निर्धारित किए। संयम की सीमायें टूटने लगीं। भोग का अतिरेक सामान्य व्यवहार का पर्याय बन गया। जिनके जीवन में यह अतिरेक नहीं था उन्होंने अपने को मनोरोगी मान लिया। सैक्स–कुंठाओं के मनोरोगियों की संख्या बढ़ती गयी।

मनोविज्ञान भी चेतना के ऊर्ध्व आरोहण में विश्वास रखता है। प्रेम से तो संतोष, विश्वास, अनुराग एवं आस्था प्राप्त होती है। किन्तु पाश्चात्य जीवन ने तो प्रेम का अर्थ इन्द्रियों की निर्बाध तृप्ति मान लिया। 'प्रेम' को निरर्थक करार दे दिया गया। 'वासना' तृप्ति ही जिन्दगी का लक्ष्य हो गया। प्रेम में तो मधुरिमा और त्याग होता है। अब हैवानियत एवं भोग की बाढ़ आ गयी। परिवार की व्यवस्थायें टूटने लगीं। एकनिष्ठ प्रेम का आदर्श समाप्त होने लगा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वे भूल गए कि प्रेम में सौन्दर्य चेतना के लिए एकनिष्ठता आवश्यक है। मनुष्य ने अपने को पशु जगत् से भिन्न 'मानव' बनाया था, समाज का निर्माण किया था, काम भाव का संयमीकरण किया था, स्व पत्नी द्वारा, काम वासना की संतुष्टि की प्रक्रिया द्वारा ब्रह्मचर्य की सामाजिक व्यवस्था का आदर्श निर्मित किया था। वह सुखी था। उसकी जिन्दगी में अपने प्रेम के आलम्बन के प्रति विश्वास रहता था। उसने इस सत्य को खोज निकाला था कि सम्भोग-सुख की पूर्ण अनुभूति एवं तृप्ति के लिए भी इन्द्रिय-नियंत्रण आवश्यक है।

इस परिवर्तन से क्या व्यक्ति को सुख प्राप्त हो सका है? परिवार के सदस्यों में पहले परस्पर जो प्यार एवं विश्वास पनपता था उसकी निरन्तर कमी होती जा रही है। जो सदस्य भावना की पवित्र डोरी से बँधे रहते थे, वह टूटती जा रही है। पहले पति-पत्नी का सुख-दुःख एक होता था। उनकी इच्छाओं की धुरी 'स्व' न होकर 'परिवार' होती थी। वे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को पूरा करने के बदले अपने बच्चों एवं परिवार के अन्य सदस्यों की इच्छाओं की पूर्ति में सहायक बनना अधिक अच्छा समझते थे।

पाश्चात्य जीवन ने पहले संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को तोड़ा। फिर परिवार में पति-पत्नी अपने में सिमटे, बच्चों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों की उन्होंने अवहेलना की। परिवार में अपने ही बच्चे बेगाने हो गए। बच्चों का कमरा अलग, माँ-बाप का कमरा अलग। बच्चों की दुनिया अलग, माँ-बाप की दुनिया अलग। एक ही घर में रहते हुए भी कोई भावात्मक सम्बन्ध नहीं। बच्चों में आक्रोश पनपा। वे विद्रोही हो गए। अधिक भावुक एवं संवेदनशील 'हिप्पी' बन गए। 'हिप्पी पीढ़ी' इतिहास के पन्नों पर उभर गयी। जो व्यवस्था से नहीं भागे, उन्होंने जब बड़े होकर अपना घर बसाया तो उनके घर में उनके माँ-बाप पराये हो गए।

पहले पति-पत्नी आजीवन साथ-साथ रहने के लिए प्रतिबद्ध होते थे। दोनों का सुख-दुःख एक होता था। दोनों को विश्वास रहता था कि वे आजीवन साथ-साथ रहेंगे। विवाह पर कोई नहीं कहता था कि आप लोग आजीवन साथ-साथ रहें। यह तो जीवन का माना हुआ तथ्य होता था। आजीवन सुखी एवं सानंद रहने की कामना की जाती थी। जब मनुष्य की चेतना क्षणिक, संशय-पूर्ण एवं तात्कालिकता में ही केन्द्रित होकर रह गयी तो व्यक्ति अपने स्वार्थों में सिमटता गया। सम्पूर्ण भौतिक सुखों को अकेला भोगने की दिशा में व्यग्र मनुष्य ने प्रेम की एकनिष्ठता का आदर्श भी तोड़ डाला। आज पति-पत्नी में परस्पर विश्वास भी टूट रहा है। तलाकों की संख्या बढ़ती जा रही है। दुःखों को अकेले ही भोगना नियति हो गयी है। 'भरी भीड़ में अकेला' मुहावरा हो गया है। मानसिक रोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। व्यक्ति भौतिक उपकरणों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

को जोड़ लेने के बाद भी मानसिक दृष्टि से अशान्त हैं। तनावों का दायरा बढ़ता जा रहा है। इन तनावों को दूर करने के लिए व्यक्ति अपने को भुलाता है। मद्यपान करता है, चरस, भाँग का सेवन करता है। उनसे भी जब नशा नहीं होता तो 'एल. एस. डी.', 'हैरा', 'ऐकीड्रीन', 'वैल्यिम', 'मैनड्रेक्स' लेता है। इनसे भी मानसिक थकान नहीं मिटती तो 'हेरोइन' यानी 'एच' लेता है। इन्हीं प्रक्रियाओं से गुजरकर ऐसे मुकाम में पहुँच जाता है जहाँ चेतना अंधेरी कोठरी में बन्द हो जाती है, पुरुषार्थ थक जाता है। अपराध प्रवृत्तियों के शिकार मानसिक रोगियों की जिन्दगी में फिर प्रकाश की कोई किरण कभी रोशनी नहीं फैलाती।

कार्ल मार्क्स ने शोषक और शोषित—इस वर्ग संघर्ष को उभारकर तथा इतिहास की अर्थ परक व्याख्या के द्वारा रोटी के प्रश्न को मानवीय चेतना का केन्द्र बिन्दु बनाकर प्रस्थापित किया। उत्पादन के साधनों पर किसका अधिकार है, उत्पादन की प्रक्रिया में रत लोगों के आपसी सम्बन्ध कैसे हैं तथा उत्पादित भौतिक सम्पदा का लाभ एवं उसके वितरण का क्या प्रबन्ध है आदि तथ्यों पर मार्क्स तथा उसकी विचारणा से प्रभावित अन्य व्यक्तियों ने विचार किया। मार्क्सवाद की विचारधारा का प्रभाव एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के देशों में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियों, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी क्रान्ति के संघर्षों, विभिन्न देशों में व्यापक आम जनवादी मोर्चों के संगठनों तथा समाजवादी देशों में उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली में पहचाना जा सकता है। साधनहीन अथवा शोषकों का चिन्तन भी बदला है। वे अपनी जिन्दगी की मुसीबतों का कारण व्यवस्था को मानकर समाज एवं राज्य से साधनों की माँग कर रहे हैं। यह बात भी आज स्पष्ट है कि राज्य के कल्याणकारी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन द्वारा बहुत सी मुसीबतों एवं कष्टों को दूर किया जा सकता है। मगर व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति की मानसिकता को सर्वथा नहीं बदला जा सकता। वस्तुतः केवल भौतिक दृष्टि से विचार करना भी एकांगिता है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने मात्र से खतरे समाप्त हो ही जावेंगे—यह भी निश्चित नहीं है। सार्वजनिक स्वामित्व के नाम पर राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) के स्थापित हो जाने पर क्या उसके चारित्रिक स्वरूप में परिवर्तन आता है? यह कहा जाता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में सम्पत्ति पर पूँजीपति वर्ग का निजी स्वामित्व एवं नियंत्रण रहता है। राजकीय पूँजीवाद में पूँजीवादी व्यवस्था में ही राष्ट्र एवं मेहनतकश वर्गों के हित में इसके उपयोग की सम्भावनायें पैदा होती हैं।

मगर प्रश्न है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के नाम पर यदि दल के अधिकारी सत्ता पर कब्जा कर लेते हैं तो क्या पार्टी-अधिनायकवाद के छद्मवेश में सत्ता पर इनकी तानाशाही स्थापित नहीं हो जाती तथा यदि इन्हीं के हाथों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

में राजकीय स्वामित्व आता है तो आगे चलकर उसके पूँजीवादी तानाशाही के स्वरूप में बदलने की सम्भावना से कैसे इन्कार किया जा सकता है ?

वास्तव में 'पेट की भूख' एवं 'शरीर की भूख' मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं। प्राकृतिक जीवन में मनुष्य पशुओं की तरह आचरण करता है। अपनी भूख को मिटाने के लिए कोई नियम नहीं होते। इस व्यवस्था में शारीरिक दृष्टि से सबल मनुष्यों के सामने निर्बल मनुष्यों को हानि उठानी पड़ती है। सबल मनुष्य निर्बल को पराजित कर भूख मिटाता है। भूख मिटाकर भी उसके जीवन में शान्ति नहीं रहती। उसे अन्य सबल व्यक्तियों का डर लगा रहता है। छीना-झपटी, झगड़ा-फसाद जीवन में बढ़ जाता है। इन्हीं से बचने के लिए मनुष्य ने समाज बनाया। शरीर की भूख तथा पेट की भूख की तृप्ति के लिए सामाजिक नियम बनाए। शरीर की भूख की तृप्ति के लिए 'विवाह' संस्था का जन्म हुआ। परिवार बना। घर बना। निश्चित हुआ एक पुरुष की एक पत्नी। उसकी पत्नी पर उसका अधिकार। उसकी पत्नी पर दूसरों का कोई अधिकार नहीं। दूसरों की पत्नियों पर उसका कोई अधिकार नहीं। उसने अपनी झोपड़ी बनायी। घर बनाया। घर के चारों ओर चार दिवारी बनायी। घर के क्षेत्र की सीमा निर्धारित हुई। उसके घर पर उसका अधिकार। उसके घर पर दूसरों का अधिकार नहीं। दूसरों के घर पर उसका कोई अधिकार नहीं।

पेट की भूख मिटाने हेतु उसने जमीन साफ की, बीजों का वपन किया, कृषि-कर्म किया। अपने खेत के चारों ओर मेंड़ें बनायीं। सरहदें स्थापित कीं। उसकी सरहद वाली भूमि पर दूसरों का अधिकार नहीं। दूसरों के खेत पर उसका अधिकार नहीं। अपना-अपना खेत, अपनी-अपनी पैदावार।

अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अन्य प्रकार के उद्यम एवं उद्योग धन्धों का विकास हुआ, इन क्षेत्रों में इसी प्रकार की सीमा एवं समझदारी विकसित हुई।

इस प्रकार समाज के अस्तित्व की आधारशिला परस्पर समझदारी, सीमा, एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण न करने का संयम, शर्तों का परस्पर सम्मान एवं एक दूसरे के अस्तित्व वृत्त एवं अधिकार वृत्त के प्रति सहिष्णुता ही है। इसी समाज में व्यक्ति संयम के साथ भोग करता आया है, अपने जीवन को बेहतर बनाता आया है।

मनुष्य में नैसर्गिक प्रकृति के साथ-साथ वृत्तियों के उन्नयन, परिष्कार, संस्कार की प्रवृत्ति भी रहती है। इसी कारण वह अपने जीवन को सामाजिक बनाता है। सामाजिक जीवन नीति से ही सम्भव है, अनीति से नहीं। नैतिक आचरण

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के लिए संयम की लगाम आवश्यक है। समाज में व्यवस्था एवं स्वच्छ वातावरण तभी रह सकता है जब उसके सदस्य संयमित आचरण करें। प्रेम, करुणा, बन्धुत्व-भाव के द्वारा ही मनुष्य का जीवन उन्नत एवं सामाजिक बनता है। चेतना का विकास होने पर ही मानव समाज लोक कल्याण की भावना की ओर उन्मुख होता है। जब जिन्दगी लक्ष्यहीन हो जाती है तो सम्पूर्ण जीवन में भटकाव आ जाता है। यही भटकाव संत्रास एवं तनाव को जन्म देता है। इससे मुक्ति पाना समस्या बन जाती है। जब-जब संयम की सीमायें टूटती हैं, जीवन एवं परिवेश दूषित एवं विषाक्त होने लगता है।

परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने, वंशानुक्रमण एवं व्यक्तित्व का प्रसार तथा आत्म परिवेष्टन के अतिक्रमण के कारण मनुष्य अकेला नहीं रह पाता। वह समाज बनाता है। समाज के अस्तित्व के लिए परस्पर सहयोग, समझदारी एवं साझेदारी आवश्यक है। कोई भी समाज धर्म चेतना से विमुख होकर नहीं रह सकता। धर्म सम्प्रदाय नहीं। धर्म पवित्र अनुष्ठान है। जिन्दगी में जो हमें धारण करना चाहिए—वही धर्म है। हमें जिन नैतिक मूल्यों को जिन्दगी में उतारना चाहिए—वही धर्म है। समाज की व्यवस्था, शान्ति तथा समाज के सदस्यों में परस्पर प्रेम एवं विश्वास का भाव जगाने के लिए धर्म का पालन आवश्यक है। धर्म के पालन का अर्थ ही है—श्रेष्ठ नैतिक कर्मों के अनुरूप आचरण।

मन की कामनाओं को नियंत्रित किए बिना समाज रचना सम्भव नहीं है। कामनाओं के नियंत्रण की शक्ति या तो धर्म में है या शासन की कठोर व्यवस्था में। धर्म का अनशासन 'आत्मानुशासन' होता है। व्यक्ति अपने पर स्वयं नियंत्रण करता है। शासन का नियंत्रण हमारे ऊपर 'पर' का अनुशासन होता है। दूसरों के द्वारा अनुशासित होने पर हम विवशता का अनुभव करते हैं, परतंत्रता का बोध करते हैं, घुटन की प्रतीति करते हैं।

धर्म मानव हृदय की असीम कामनाओं को स्व की प्रेरणा से सीमित कर देता है। धर्म हमारी दृष्टि को व्यापक बनाता है, मन में उदारता, सहिष्णुता एवं प्रेम की भावना का विकास करता है।

अभी तक धर्म एवं दर्शन की व्याख्यायें इस दृष्टि से हुईं कि उससे हमारा भविष्य जीवन उन्नत होगा। धर्म के आचरण की वर्तमान व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन की दृष्टि से सार्थकता क्या है, इसको केन्द्र बनाकर चिन्तन करने की महती आवश्यकता है तभी कर्म का सामाजिक सन्दर्भ स्पष्ट हो सकेगा।

◆□◆

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org